

गढ़वाल में होली गायन परंपरा: एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सारांश

होरी धमार एवं होली चांचर कही जाने वाली गान विधाओं का सम्बन्ध देगी संगीत की उस धारा से है जिसका विकास श्रोत बसंत एवं फाल्गुन रासों की परम्परा में चली आई चांचर और धम्माली संज्ञक ज्ञान नृत्य परम्पराओं से है। होली उत्सव के प्रारम्भिक विकास की ओर देखने से स्पष्ट होता है कि संपूर्ण भारतीय संस्कृति पुरातन काल से ही धर्म से ओत-प्रोत रही है। इसी कारण अनेक धार्मिक पर्वों एवं उत्सवों पर गायन-नृत्य का प्रदर्शन भारतीय जनजीवन में अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहा है जिसमें होली का उल्लास लिये यहाँ का जनसमूह होली के रंगों में रंग जाता है।

इस प्रकार इतिहास और विकास के कालक्रम से गुजरती विचरती होली अपने प्राचीन रूप को संजोये हुए घर, देहरी, आंगन व चौपालों से होकर आज मंच तक आ पहुँची है जिसके पीछे आज विभिन्न संगठन, संस्थाएँ तथा विज्ञ होली गायक इस सांस्कृतिक धरोहर को गति देने के लिये समर्पित भाव से लगे हैं और एक महोत्सव का वातावरण बनाने के लिये प्रयासरत हैं।

मुख्य शब्द भारतीय संस्कृति, बसंत एवं होली क्रीडा, हिन्दुस्तानी संगीत प्रस्तावना

“भारतीय संस्कृति में श्रृंगार और आनन्द महोत्सव के रूप में बसंत एवं होली क्रीडा का सदैव से ही प्रमुख महत्व रहा है जिसे प्राचीन ग्रन्थों में मदनोत्सव या मदन महोत्सव भी कहा गया है।¹ वही आजकल होली पर्व के रूप में जाना जाता है।

हिन्दुस्तानी संगीत में शास्त्रीय विधि से गाई जाने वाली प्रमुख विधाओं के रूप में ‘होरी-धमार’ एवं ‘होली चांचर’ या ‘होली तुमरी’ को होली गान के अन्तर्गत माना जाता है। अतः ‘होरी-धमार’ एवं होली (होली तुमरी या चांचर) नामों से अभिहित की जाने वाली इन गेय विधाओं का सम्बन्ध भी मुख्यतः बसन्तोत्सव एवं होलिकोत्सव से ही सिद्ध होता है।²

दूसरे अर्थों में होली हमारी संस्कृति की पुरातन यज्ञीय परम्परा से भी अभिन्न रूप से जुड़ी है। खेतों में लहलहाते नवान्न की बालियों को तोड़कर प्रज्वलित अग्नि में भूनने की प्रथा सदियों से चली आ रही है।

इसी कारण इस पर्व का नाम होली पड़ा। आपस्तम्ब श्रोत सूत्र के अनुसार: “अग्नियों का आह्वान करने वाले व्यक्ति के लिये किसी भी अन्न को ग्रहण करने से पूर्व उसका अनुष्ठान करना आवश्यक होता है।³ इसी प्रकार प्राचीन भारतीय समाज में किसी भी नवान्न को अग्नि में समर्पित करना धार्मिक कर्तव्य समझा जाता था।” बसंत ऋतु में की गयी ईष्ट (यज्ञ) ‘नवान्नेष्टि’ या ‘अग्रायणेष्टि’ कहलाती थी। अग्नि का समर्पित किया जाने वाला पुरोडा⁴। ‘जौ’ अथवा चावल का होता था।⁵

इस प्रकार आज भी फाल्गुन की पूर्णिमा को जलती हुई होली में जौ की बाली को भूनने की प्रथा है, जो प्राचीन यज्ञों का स्मरण कराती है। ‘होम’ तथा ‘होला’ ये दोनों शब्द होली के बहुत करीब हैं। अतः होली शब्द की उत्पत्ति भी इन दोनों शब्द रूपों से मानी जा सकती है।

आचार्य कैला⁶ चंद्र देव बृहस्पति के अनुसार : “तन और मन दोनों को रंग देने वाला पर्व होली हिन्दू और मुसलमान दोनों को समान रूपेण रंगीन प्रतीत हुआ था। धमार ताल में गाये जाने वाले गीतों की संज्ञा ‘होरी’ हो गयी थी और ऐसे गीत ध्रुवपद गायकों के गान का एक अनिवार्य और ललित अंग थे।⁷

श्री हरिहर निवास द्विवेदी के अनुसार – ‘धमार’ या ‘होरी’ ध्रुवपद का लोक प्रचलित रूप है। ज्ञात यह होता है कि ‘बैजू’ ने लोक गीतों की धुनों को परिष्कृत कर इस गायन विधा को जन्म दिया।⁸



आशा पाण्डे कृष्ण

विभागाध्यक्ष एवं एसोसियेट प्रोफेसर,
संगीत विभाग,
हे0न0ब0केन्द्रीय वि०विद्यालय,
श्रीनगर, गढ़वाल

पण्डित विष्णु नारायण भातखण्डे के अनुसार – हमारे समाज में उच्च कोटि के गीतों का आर्य ध्रुपद, ख्याल तथा टप्पे से है, प्रबंध तथा होली का गायन ध्रुपद के अन्तर्गत माना जाता है।⁷

इस प्रकार होरी धमार एवं होली चांचर कही जाने वाली गान विधाओं का सम्बन्ध देगी संगीत की उस धारा से है जिसका विकास श्रोत बसंत एवं फाल्गुन रासों की परम्परा में चली आई चांचर और धम्माली संज्ञक ज्ञान नृत्य परम्पराओं से है। होली उत्सव के प्रारम्भिक विकास की ओर देखने से स्पष्ट होता है कि संपूर्ण भारतीय संस्कृति पुरातन काल से ही धर्म से ओत-प्रोत रही है। इसी कारण अनेक धार्मिक पर्व एवं उत्सवों पर गायन-नृत्य का प्रदान भारतीय जनजीवन में अनिवार्य रूप से सम्मिलित रहा है जिसमें होली का उल्लास लिये यहाँ का जनसमूह होली के रंगों में रंग जाता है। पर्वतीय क्षेत्र में प्राचीन काल से लेकर आज तक कुमाऊँ व गढ़वाल उत्तराखण्ड के दो अविभाज्य अंग रहे हैं। प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ 'स्कन्द पुराण' में कुमाऊँ क्षेत्र को 'मानस खण्ड' तथा गढ़वाल क्षेत्र को 'केदारखंड' की संज्ञा दी गयी है। यही दो इकाईयाँ मिलकर उत्तराखण्ड की भौगोलिक सीमा का निर्धारण करती हैं। उत्तराखण्ड के कुमाऊँ एवं गढ़वाल क्षेत्र में भी अन्य प्रान्तों की तरह होली मनाई जाती है।

गढ़वाल क्षेत्र

गढ़वाल में आमलकी एकादशी के दिन चीरबन्धन होता है यहाँ होली गायन की परम्परा संपूर्ण गढ़वाल के सब ग्रामों में नियमित रूप से नहीं है। कुछ क्षेत्रों में जैसे- श्रीनगर, पौड़ी, देहरादून तथा उत्तरकाशी के कुछ गाँवों/होरों में होली गायन की परम्परा दिखाई देती है जो कि सांस्कृतिक परम्परा व सामाजिक सरसता की परिचायक है जिसमें सभी धर्मों के लोग भाग लिया करते थे जिसकी प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा इस प्रकार मिलती है –

राजा प्रद्युम्न शाह के शासनकाल में श्रीनगर गढ़वाल की होली एक प्रमुख पर्व था। बसंत पंचमी के अवसर पर राजा का दरबार लगता था जिसमें होली गायकों को सरस्वती पूजन के बाद राज दरबार की गणिकाएँ जो कि तवायफ़ कहलाती थीं उनके द्वारा गायन किया जाता था जिनकी गायन शैली को 'ठाठ' नाम की संज्ञा दी जाती थी तबसे विधिवत् रूप से एक महीने तक होली की बैठक जगह-जगह पर आयोजित की जाती थी। गढ़वाल विभाजन के पहले टिहरी जिला बनने तक राजा प्रद्युम्नशाह के शासनकाल की यह होली चलती रही लेकिन टिहरी बनने के बाद लोग राजा के साथ टिहरी चले गये जहाँ पर यह होली गायन परंपरा कई वर्षों तक जारी रही। गढ़वाल के जनपद पौड़ी में होली कुमाऊँ की होली की तर्ज पर आज बैठकी होली के रूप में प्रचलन में है जो कि कुमाऊँ से ही आई प्रतीत होता है।

खड़ी होली गायन की परम्परा कुछ ही गाँवों में है। यह हर जगह नहीं गाई जाती है और न ही कुमायूँ की तरह महिला होली गायन की परम्परा है। हाँ कुछ कुमाऊँ क्षेत्र के लोग जो कि यहाँ स्थायी रूप से अध्यासी थे, सरकारी कार्मिक हैं जो कि वर्षों से गढ़वाल में ही कार्यरत हैं। उनके द्वारा महिला होली का आयोजन किया

जाता है जिसमें गढ़वाल की महिलाओं की भी उत्साहपूर्वक सहभागिता रहती है और वे अपने-अपने घरों में भी महिला होली का आयोजन कराती हैं इस तरह महिला होली का प्रचार-प्रसार गढ़वाल क्षेत्र में भी हुआ। इसी तरह बैठकी होली का आयोजन भी यहाँ कुछ ही लोग कराते हैं। श्रीनगर गढ़वाल में जैसे- श्रीकृष्णा नन्द मैठाणी जी नियमित रूप से हर साल होली की बैठक कराते हैं। स्व0 डॉ0 पाती राम काला जी व स्व0 इन्द्र मोहन काला जी तथा स्व0 उमाशंकर थपलियाल जी भी नियमित रूप से होली की बैठक बड़े उत्साहपूर्वक कराते थे।

यहाँ होली गीत अधिकतर दीपचन्दी ताल में ही गाये जाते हैं। होली खेलने जितने भी व्यक्ति गये होते हैं उन्हें 'हुरयाव' की संज्ञा दी जाती है, ये हुरयाव अपने गाँवों में जाते समय और बाहरी गाँवों से लौटने पर भी होरी गाते/खेलते हैं और फाल्गुन शुक्ल पक्ष पूर्णमासी की रात्रि तक अपने गाँव अवय लौटते हैं। बड़ा गाँव या बड़ा छान संख्या हो तो उन्हें दो-तीन टोलियों में भी विभक्त किया जाता है। ये टोलियों के साथ नर-नारी विदूषक अवय होते हैं। एक सन्यासी छोटी-बड़ी टोलियों के साथ होता है, सन्यासी केवल चावल, गुड़, और दक्षिणा मांगने का काम करता है। इससे हुए आय का बंटवारा सभी में होता है। बड़ी टोलियों के साथ रणसिंगा, मसकबीन, ढोलक, भंकोरे, शंख, विणई, मोरचंग होते हैं। नर-नारी विदूषक अपने साथ घुंघरू आदि अलग से ले आते हैं। टोली नायक को 'जिल्ला' कहते हैं। उसी के अधीन होरी गायी जाती है। हुरयाव गोल घेरा बनाकर गाते हैं। गाते-गाते शनैः शनैः अपने ही स्थान पर पैरों से सामान्य अभिनय करते हुए घेरे में ही आगे बढ़ते हैं। 'जिल्ला' इन सबके मध्य होता है उसके हाथों म मंजीरा होता है। वह गाते/बजाते नृत्य करते हुए घेरे के चतुर्दिक प्रत्येक हुरयाव के अभिनय गीत व लय की कमियों का अध्ययन करते हुए इशारों ही इशारों में अभियुक्त की कमियों को दूर भी कर देता है।

हुरयावों की वेग-भूषा चूड़ीदार पाइजामा, अचकन-कुर्ता सफेद व सफेद ही टोपी भी होती है जिनके किनारे लाल रंग से रंगे होते हैं। प्रत्येक हुरयाव के पास एक-एक सफेद रूमाल जिसके किनारे भी लाल रंग से रंगे होते हैं, साथ ही एक फुट लम्बी बेंत होती है उस बेंत और रूमाल को वे होरी गाते समय ठीक आगे तब उठाते हैं जब वे अपने ही घेरे के बने दो दलों में से भिन्न-भिन्न दल की गीत पंक्ति की पुनरावृत्ति करते हैं। गाते-गाते धड़, पैर और हाथों से अभिनय भी करते हैं।

"हुरयाव जिस गाँव में अपने आने की पूर्व सूचना देंगे वह गाँव उनके भोजन, आवास की व्यवस्था करेगा किन्तु खिलाई, किराया नहीं लेगा। या तो वह गाँव पूर्व में कभी उनके गाँवों के द्वारा किये गये भोजन आवास की एवज व्यवस्था करता है या फिर भविष्य में जब कभी वह गाँव होरी खेलेगा, तब बदले में वसूल कर लेगा। इस प्रकार भोजन, आवास की वसूली व्यवस्था है। इसे यहाँ 'जाफत' कहते हैं।⁸ 'हुरयाव' सफेद झण्डे या निशान के नीचे होरी गाते हैं। झण्डा आगे-आगे जाता है झण्डे के मध्य में एक चक्र होता है, कहीं-कहीं सूर्य का चक्र होता है। चक्र में चतुर्दिक घोड़े, हाथी, शेर, मछली आदि के चित्र चित्रित होते हैं। झण्डा हुरयावों के घेरे के मध्य होता

है। साथ ही ढोलक वाला भी मध्य में होता है। हुरयाव अपने गाँव से बाहर जाने से पूर्व सर्वप्रथम ईष्ट के नाम से होरी गाते हैं या मंदिर में जाकर होरी गाते हैं। होरी गीत के अन्त में प्रत्येक मवासे को थोड़ा टीके हेतु रंग देते हैं जिसे 'फक्क' कहते हैं। यहाँ होलिका दहन नहीं होता किन्तु झण्डे या निगाण पर एक चीर बंधी होती है, उस हुरयाव 'प्रतिपदा' के दिन सामूहिक रूप से जला देते हैं।

हुरयाव आपस में रंग नहीं फेंकते, जिल्ले की अवय मजाक उड़ाते हैं उस पर रंग भी फेंकते हैं। स्नानोपरान्त सभी हुरयाव उसी स्थान पर जाते हैं जहा उन्होंने होरी सीखी थी, वहाँ पर होरी गाने के बाद प्रायः चत रूप में हवन, गोदान करने के बाद अपनी शुद्धि करते हैं। इसी प्रकार श्रीनगर गढ़वाल की होली गायन परम्परा का वर्णन स्व० डॉ० उमाकिंकर थपलियाल जी के शब्दों में इस प्रकार है गढ़वाल नरेगा राजा प्रद्युम्न शाह के जमाने से ही होली बैठकों का प्रारम्भ अन्य नगरों व ग्रामों तक प्रारम्भ हुआ। श्रीनगर के पास स्थित सुपाणागांव के अधिकांश लोग राजकीय सेवाओं में होते हुए भी अवकाश में अपने पैतृक गांव में होली की बैठकों में सम्मिलित होते थे। यहां भी मौलाराम के वंज 'गामिल' तथा 'फोदुकुमार' मिश्रित होली का गायन करते थे। शामिल होली के दौरान चौबाला गाया करते थे जो कि डफली के साथ गायी जाती थी जो हुडदंग भरी होती थी जैसे

अज होरी तेरी मेरी नन्दलाल
कनी होरी कनी होरी
खेलदो हमारे गैल
देखी जाली सारी सैल
तेरी मेरी नन्दलाल
तेरी मेरी नन्दलाल

इसी प्रकार स्व० नारायण दत्त थपलियाल जी जो होली सम्राट माने जाते थे की एक प्रिय टोली होली जो कि राग काफी में है यथा:

दृग चंचल नैन संभारो
किसी को मारोगी क्या।
ऐसे दृग चंचल अति ही रसीले
घाय की न हजार
किसी को मारोगी क्या?

श्रीनगर में होली में स्वांग परम्परा 'राजा' के समय से ही प्रचलन में थी। ऐतिहासिक विवेचन में श्रीनगर राज्य का उल्लेख प्राप्त होता है।

होली की एकादशी के दिन पय्याँ के पेड़ से टहनी निकालकर गोला बाजार में स्थित की जाती थी उससे चीर बंधन होता था। तत्पश्चात् अबीर-गुलाल व रंग चढ़ाकर सभी को टीका लगाया जाता था। इस प्रकार एकादशी से रंग प्रारम्भ हो जाता था और मुहुर्त के अनुसार पूर्णमासी की रात को होलिका दहन होता था। गोला बाजार में स्थित गणेश मंदिर से सभी होलियार चीर टोली बनाकर गाते हुए रामलीला मैदान में ले जाते थे जैसे -

दुल्हन चल तोहे पिया ने बुलायी
चार कहारी तोरी डोलिया पे लागे

संग चला तेरा भाई

रामलीला मैदान में बड़ी धूमधाम से होली जलाकर उसकी परिक्रमा की जाती है तब ये गीत गाते थे
राम सुमिर राम सुमिर
यही तेरा काजरे

इस प्रकार प्रातःकाल से ही 'छरोली' शुरू हो जाती थी। शहर में रंग खेला जाता था, औरतें अत्यन्त पीष्टाचार के साथ छत से रंग की बाल्टियाँ डालती तथा पिचकारियाँ डालती थी और पुरुष लोग स्वीकार्य भाव से नीचे से ही अबीर-गुलाल उड़ाते थे। इस तरह संपूर्ण जनमानस होली के रंग में सराबोर होकर निम्न रसिया गाते थे -

भर मुठी मारे गुलाल
मेरे पिया होली के रसैय्या
सौ शीं रंग की डार
मेरो पियो होली का रसैय्या

इसी तरह हंसी मजाक ठिठोली के रूप में निम्न गीत गाते थे "बिन बादल बिजुली कहाँ चमकी" होली के अवसर पर पकवान जैसे गुजिया, चिप्स, पापड़, नमक पारे आदि खिलाने की परम्परा आज भी है। होली के रंगों में रंगने के बाद सभी होलियार कमलेश्वर मंदिर जो कि अत्यन्त प्राचीन है में जाकर अबीर गुलाल व रंग पीवजी को चढ़ाकर होली का समापन करते हैं। यही से सभी होलियार विदा लेकर अपने-अपने घरों को लौट जाते हैं।

इस प्रकार होरी मिलन में सभी एक दूसरे के सुख समृद्धि की खुहाली की मंगल कामनाओं के साथ परस्पर गले मिलते हैं। इस मिलन में साल भर का आपसी बैर, भेदभाव सब मिट जाता है और रंगो भरे वातावरण में वृद्ध, नर, नारी, बाल-बच्चे सभी होली के रंग में सराबोर हो जाते हैं। छलड़ी के दिन तो बाजारों में सभी स्थानों में रंग ही रंग घुला रहता है और होली का अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वातावरण होता है।

गढ़वाल के महार होली गायक जिनकी स्मृतियाँ ही शेष बची हैं उनके योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है जैसे स्व० दयाभाई धस्माना एवं स्व० नारायण दत्त थपलियाल, स्व० भास्करानन्द मैठाणी, स्व० मास्टर सराई, स्व० नैनू टेलर, स्व० शंकर भट्ट, स्व० पातीराम काला, स्व० इन्द्रमोहन काला के सफल प्रयासों के फलस्वरूप मथुरा व वृन्दावन की परम्परा पर आधारित होली गीत प्रचलित रहे व देव स्तुति के रूप में गाये जाने वाले होली गीत भी अधिकाधिक प्रचलन में रहे। तब होली की बैठकें सुबह-दोपहर व रात्रि में निर्बाध रूप में होती थी। होली के जुलूस निकलते थे तथा परम्परागत होली गीतों के अतिरिक्त नये प्रयोग भी होते रहे। स्व० उमाकिंकर थपलियाल, स्व० चिन्तामणि मैठाणी तथा अन्य लोगों ने गायकी के नये आयाम देकर होली परम्परा को समृद्ध बनाया तथा होली गायन परंपरा की ऐतिहासिक संस्कृति को बनाये रखा।

इस प्रकार इतिहास और विकास के कालक्रम से गुजरती विचरती होली अपने प्राचीन रूप को संजोये हुए घर, देहरी, आंगन व चौपालों से होकर आज मंच तक आ

ISSN No. : 2394-0344

पहुँची है जिसके पीछे आज विभिन्न संगठन, संस्थाएँ तथा विज्ञ होली गायक इस सांस्कृतिक धरोहर को गति देने के लिये समर्पित भाव से लगे हैं और एक महोत्सव का वातावरण बनाने के लिये प्रयासरत हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. नीता माथुर, हिन्दुस्तानी संगीत में होली गान पृ० 3
2. — वही — पृ० 4
3. वैदिक धर्म एवं दर्शन पृ० 401

REMARKING : VOL-1 * ISSUE-9*February-2015

4. धीरेन्द्र कुमार सिंह, ब्राह्मण ग्रंथों में प्रतिबिम्बित समाज एवं संस्कृति पृ० 256
5. नीता माथुर, हिन्दुस्तानी संगीत में होली गान पृ० 4
6. राजा भैय्या पूंछवाले, ध्रुपद धमार गायन, पृ० 3
7. डॉ० कै० चन्द्र बृहस्पति, ध्रुपद और उसका विकास पृ० 264
8. तोताराम ढोंढियाल, "गढ़वाल होली का स्वरूप" 264